लोक-धर्म की अवधारणाओं के संदर्भ में 'भक्ति' का स्वरूप।

अधीर कुमार

प्रोफेसर, हिंदी विभाग, पण्डित ललित मोहन शर्मा परिसर ऋषिकेश.

शोध-समस्या:-

प्रस्तुत शोध-पत्र का मूल प्रश्न है - लोक-धर्म की अवधारणाओं के संदर्भ में भक्ति का स्वरूप।

आवश्यकता:- भक्ति और लोक-धर्म के स्वरूप के बारे में व्याप्त भ्रमों का निराकरण।

उद्देश्य:- लोक-धर्म की विभिन्न अवधारणाओं के संदर्भ में भक्ति के स्वरूप का स्पष्ट निरूपण।

प्रविधि:- इस शोध-पत्र के उद्देश्य तक पहुँचने के लिए मुख्यतः विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक प्रविधि का प्रयोग किया गया है।

पूर्व-धारणा:- हिन्दी भक्ति-काव्य की आलोचना में व्यवहृत लोक-धर्म की अवधारणाओं में पाए जाने वाले अंतर को स्पष्ट करने से भक्ति की स्वरूपगत विविधता और इनमें निहित अंतर्विरोधों के बावजूद लोक-धर्म और भक्ति के स्वरूप को जाना जा सकता है।

बीज शब्द:- भक्ति, लोक-धर्म, धर्म, वेद, परम्परा, संस्कृति, परिवर्तन, जिजीविषा, भगवद्विषयक रति, अनन्य भाव, शरणागति, अहैतुक प्रेम, निव्याज आत्मसमर्पण और अनुभवैकगम्य।

संबंधित साहित्य का अवलोकन:- प्रस्तुत प्रसंग के अध्ययन-विश्लेषण के लिए आचार्य शुक्ल की कृति 'गोस्वामी तुलसीदास' और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'; आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर' और 'अशोक के फूल'; रामविलास शर्मा की 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना'; नामवर सिंह की 'दूसरी परम्परा की खोज' तथा मलयज की 'रामचन्द्र शुक्ल' आदि कृतियों का सर्वेक्षण अपेक्षित है।

समस्या का परिचय:- भक्ति की अनेक धाराएँ और पद्धतियाँ हैं। निर्गुण-धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के कबीर, रैदास, धर्मदास, गुरु नानक, दादू दयाल, सुंदर दास और मलूक दास जैसे कवियों के यहाँ ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को अपनाया गया है तो प्रेमाश्रयी शाखा के कुतुबन, मंझन और जायसी और उसमान के यहाँ सूफी मत को आधार बनाया गया है। सगुण धारा की कृष्णाश्रयी शाखा कृष्ण-भक्ति को लेकर चली है तो रामाश्रयी शाखा रामभक्ति का आधार ग्रहण करती आई है। इन सभी धाराओं में भक्ति संबंधी अपनी-अपनी धारणाएँ और मान्यताएँ प्रचलित रही हैं। इसके साथ-साथ एक दूसरे के मतों का खण्डन-मंडन भी भरपूर है। हिन्दी भाषी समाज और वृहत्तर भारतीय जन-समुदाय पर भी इन धाराओं का व्यापक और दीर्घकालिक प्रभाव रहा है। हिन्दी-आलोचना में भक्ति के स्वरूप को लेकर बहुत असमंजस है। समस्या यह है कि इतनी विभिन्नताओं को अपने में समेट कर चलने वाली भक्ति के वास्तविक स्वरूप की पहचान कैसे की जाय। इन विभिन्न धाराओं के पारस्परिक विभेदों के साथ और इनके बावजूद भक्ति के ऐसे कौन से आयाम हैं जो इन्हें एक ही पटल पर ला खड़ा करते हैं। व्यापक लोक-धर्म के रूप में भक्ति की स्वीकृति का आधार क्या है? लोक-धर्म का अर्थ क्या है?

अध्ययन

भक्ति-साहित्य की आलोचना के प्रसंग में 'लोक-धर्म' शब्द का व्यवहार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी किया है और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी। नामवर जी के अनुसार -"आचार्य शुक्ल की पुस्तक 'तुलसीदास' के 'लोक-धर्म' शीर्षक अध्याय से स्पष्ट होता है कि उनके यहाँ लोक-धर्म का अर्थ बहुत कुछ वर्णाश्रम धर्म ही है।" इसके प्रतिकूल आचार्य द्विवेदी के यहाँ 'लोकधर्म' को साधारण जनों के विद्रोह की विचार-धारा बताया गया है।

साधारण जनों के विद्रोह की विचारधारा को लोक-धर्म कहने का कारण बताते हुए नामवर जी कहते हैं कि -"इसका एक कारण तो यह है कि यह उच्चवर्गों के शास्त्र के समान सूक्ष्मातिसूक्ष्म तर्क-पद्धति से सम्पन्न तथा व्यापक विश्व-दृष्टि के रूप में विकसित कोई सुसंगत और सुव्यवस्थित विचार-प्रणाली नहीं है। दूसरा कारण यह है कि यह पूँजीवादी समाज के बीच निर्मित किसी एक सुनिश्चित वर्ग-चेतन वर्ग की विचार-प्रणाली नहीं बल्कि सामन्ती युग के असंगठित किसानों और दस्तकारों के विविध वर्गों-उपवर्गों की मिली-जुली भावनाओं का पुंज है।" लोक-धर्म की ऊपर व्याख्यायित ये दोनों अवधारणाएँ इस तरह प्रस्तुत की गई हैं कि स्पष्टतः एक दूसरे के विरुद्ध खड़ी दिखाई देती हैं। एक का आधार 'शास्त्र' को बताया गया है तो दूसरे का 'असंगठित किसानों और दस्तकारों के विविध वर्गों-उपवर्गों की मिली-जुली भावनाओं को। एक को मानने और मनवाने की जिद लिए समाज का सुविधाप्राप्त उच्चवर्ग खड़ा है तो दूसरे के साथ सुविधाहीन तथाकथित निम्न-वर्ग।

प्रत्येक युग के अपने दबाव और अपनी विशेषताएँ होती हैं। अतः युग विशेष में निर्मित निष्कर्ष परम्परा-प्राप्त तो होते हैं, परंतु उनपर युगीन दबावों और विशेषताओं का गहरा असर होता है। लोक-धर्म की व्याख्याएँ भिन्न हो सकती हैं परंतु इससे उसका स्वरूप भिन्न नहीं हो जाता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की निम्नलिखित पंक्तियाँ लोक-धर्म के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करती हैं -"जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का मिश्रण है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है। सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है, मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित अनाहत धारा की भाँति सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। भारतीय संस्कृति की विकास-धारा के परिचय की जैसी पूर्णता आचार्य द्विवेदी की इन पक्तियों में हैं वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इस मान्यता को आधार बनाएँ तो मनुष्य की जिजीविषा की गंगा-धारा में अन्य समस्त सांस्कृतिक प्रवाह मिलते रहे हैं। जिजीविषा जीव-धर्म है। यह पहले जीव की प्रकृति है और बाद में उसका स्वभाव है। जीव वैसे तो बड़ा व्यापक अर्थ रखता है पर प्रस्तुत संदर्भ में हमारा मतबल मात्र मनुष्य से है। लोगों का समुच्चय लोक है, अतः लोक-धर्म लोगों के धर्म का सम्मिलित रूप है, अर्थात् जिजीविषा लोक-धर्म है। लोक-धर्म की इस अवधारणा में अंतर्विरोध का अवकाश कहाँ?

लगे हाथ यह भी देखते चलें कि लोक-धर्म के बारे में आचार्य शुक्ल क्या कहते हैं। अपनी प्रसिद्ध कृति 'गोस्वामी तुलसीदास' में वे लिखते हैं -"संसार जैसा है वैसा मानकर, उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा वही धर्म लोक-धर्म होगा। जीवन के किसी एक अंग मात्र को स्पर्श करनेवाला धर्म लोक-धर्म नहीं। जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरनेवाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिए छोड़ दे, उनके लिए कोई व्यवस्था न करे, वह लोक धर्म नहीं, व्यक्तिगत साधना है। यह साधना मनुष्य की वृत्ति को ऊँचे से ऊँचे ले जा सकती है जहाँ वह लोक-धर्म से परे हो जाती है। पर सारा समाज इसका अधिकारी नहीं। जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोक-धर्म होता है।"

लोकधर्म की प्रस्तुत अवधारणा तक पहुँचने में, इसकी निर्विवाद स्वीकृति में निश्चय ही सदियाँ लगी हैं। अनेकानेक प्रयत्न हुए हैं और उनके बीच आकार पाता हुआ यह सच आज भी हमारे-आपके सामने है। कहना न होगा कि इन प्रयत्नों के अपने-अपने युग थे और युगीन संदर्भ भी। अब यदि एक युग के प्रयत्न से दूसरे युग के प्रयत्न में कहीं कोई विरोध दिखाई देता है तो इसे लोकधर्म की अवधारणा का अंतर्विरोध न कहकर युगीन मान्यताओं का अंतर ही कहा जा सकता है।

लोक-धर्म के विषय में यदि उपरिलिखित विचारों के साथ चलकर सोचें तो लोकधर्म का जो स्वरूप आचार्य शुक्ल ने निर्धारित किया वह निश्चित रूप से वही नहीं हो सकता था जो उनके बहुत बाद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया। स्पष्टतः इन दोनों निष्कर्षों में कतिपय विरोध दृष्टिगत होते हैं परंतु ये अन्तर युगीन दबावों, युगीन विशेषताओं और लेखकीय मानसिकता के अन्तर हैं, लोकधर्म के वस्तु-स्वरूप के नहीं।

सांस्कृतिक परिवर्तन के क्रम में ग्रहण की चर्चा तो बार-बार होती है पर त्याग केवल 'अशोक के फूलों' का समझा जाता है। सच तो यह है कि त्याग भी उतना ही महत्वपूर्ण है, बल्कि कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा के पथ में जो भी सांस्कृतिक तत्व जड़ होकर आया उसे त्याग दिया गया। कहना गैर जरूरी है कि वर्ण-व्यवस्था का भी वही हाल हुआ है अन्यथा समाज का जो रूप आज हमारे सामने है, ज्यादा पीछे नहीं महज स्वतंत्रता संग्राम के दिनों की बात याद करें तो यह परिवर्तन अद्भुत और अकल्पनीय-सा लगता है। या फिर, और पीछे कबीर और तुलसी के युग की बात करें तो आज के समाज को देखकर शायद ही उसके निकट पहुँच पाएँगे।

ग़रज यह कि परिवर्तन घटित हुआ है और इस परिवर्तन के पीछे न केवल तुलसी का लोकधर्म है, न केवल कबीर का; न केवल आचार्य शुक्ल का लोकधर्म है, न केवल आचार्य द्विवेदी का बल्कि उसके पीछे संस्कृति के विकास का सम्पूर्ण इतिहास है, जिसका सामान्य धर्म ही लोकधर्म है। ऐसे में लोकधर्म को खाँचों में बाँटना और बँटे हुए लोकधर्म को सामाजिक परिवर्तन का आधार बताने वाला तर्क संदेह के घेरे में आ जाता है। प्रत्येक लेखक के पीछे उसका समय होता है। उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्थितियाँ होती हैं और अनेक कारण होते हैं जो उसके सोचने की दिशा को प्रभावित करते हैं। इसका प्रभाव लेखन पर होता है। उन लेखकों के लेखन का सम्मिलित प्रभाव कमोबेश जनता पर पड़ता है। जहाँ तक भारतीय समाज का प्रश्न है यहाँ आज भी कोई एक ऐसा व्यक्ति खोजना लगभग असम्भव है जिसके विचारों संस्कारों और कर्मों पर किसी एक ही लेखक का या किसी एक ही मतवाद का पूरा प्रभाव हो। घोषित रूप से दल-बद्ध लोगों के भी पास जाने पर उनके व्यवहारों में हम भारतीय परम्परा के विभिन्न मतों की छाया आसानी से देख सकते हैं। ऐसे में यह मानकर कि आचार्य शुक्ल उच्चवर्ग की पक्षधरता के साथ लोकधर्म को व्याख्यायित कर रहे थे और आचार्य द्विवेदी इसके विपरीत निम्नवर्ग की पक्षधरता के साथ लोकधर्म की व्याख्या कर रहे थे; या कि तुलसी उच्चवर्गीय मानस के प्रतिनिधि कवि थे और कबीर निम्नवर्गीय मानस के प्रतिनिधि कवि थे, नितांत भ्रामक है। न तो तुलसी और न कबीर ही इन क्षुद्रताओं में कभी बँधे थे और न इनके ईमानदार व्याख्याकारों पर ही इसका आरोप उचित है।

'दूसरी परम्परा की खोज' शीर्षक पुस्तक का एक अध्याय है - 'अस्वीकार का साहस'। आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के सन्दर्भ में अस्वीकार के साहस का अर्थ समझने के क्रम में जो बात सामने आती है वह यह कि आजकल आलोचना की प्रचलित परिपाटी में आलोचकों के अस्वीकार का यह साहस जाता रहा है। कहना महज इतना है कि आज हम उसी बात को अस्वीकार करते हैं जो किसी मान्य विद्वान द्वारा पहले अस्वीकार कर दी गयी है। यही हाल स्वीकार के सन्दर्भ में भी है, यह कहना न होगा। नामवर जी ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी में अस्वीकार के साहस को रेखांकित किया है पर वहीं से जो और बात सामने आती है वह यह कि द्विवेदी जी ने कबीर के अस्वीकृत व्यक्तित्व को स्वीकृति दिलायी। यहाँ, कबीर-साहित्य की उन विशेषताओं का स्वीकार, कहीं अधिक महत्वपूर्ण लगता है। गुणों की स्थापना अवगुणों के नकार से कम महत्वपूर्ण नहीं है यहाँ।

आचार्य शुक्ल ने 'तुलसीदास' में लिखा है कि -'कबीर आदि निर्गुणिया सन्त लोक-विरोधी थे।' दूसरी ओर आगे चलकर वे यह लिखते हैं कि- "मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्म-गौरव का भाव जगाया।" इन दो उद्धरणों से जो बात स्पष्ट होती है वह यह कि आचार्य शुक्ल निम्न श्रेणी की जनता और लोक को पर्यायवाची नहीं मानते हैं। आचार्य शुक्ल के लिए लोक-सम्पूर्ण इहलोक है और लोक-रंजन तथा लोक-रक्षण का सम्बन्ध इस लोक में रह रही सम्पूर्ण मानव-जाति और व्यापक जीवन-जगत से है। इस व्याख्या से यदि सब कुछ को अपने में समाहित कर लेने की प्रवृति की झलक मिलती है तो यह सच ही है क्योंकि यही सच भारतीय विभिन्नता में एकता की स्थिति का आधार है। इस रूप में आचार्य शुक्ल के 'लोक' और आज प्रचलित 'लोक' की अधूरी समझ को परस्पर मिलाकर आचार्य शुक्ल को शास्त्रीय परम्परा का पक्षधर और लोक-परम्परा का विरोधी घोषित करना तर्कसंगत नहीं जान पड़ता।

भक्ति आन्दोलन के उद्भव की चर्चा के क्रम में अपने एक निबंध में मुक्तिबोध ने जहाँ तुलसी को उच्चवर्गीय मानसिकता का प्रतिनिधि कवि सिद्ध किया है, वहीं यह महत्वपूर्ण सवाल भी खड़ा किया है -"क्या यह महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत एक भी प्रभावशाली और महत्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया। क्या यह एक महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्णभक्तिशाखा के अंतर्गत रसखान और रहीम जैसे हृदयवान मुसलमान कवि बराबर रहे आये किन्तु रामभक्तिशाखा के अंतर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका था।"

आचार्य शुक्ल के लिए यह प्रश्न अप्रत्याशित नहीं था। उन्होंने इस प्रश्न पर विचार करते हुए पहले ही लिखा है -"श्री कृष्ण का लोक रक्षक और लोक रंजक रूप गीता में और भागवत पुराण में स्फुरित है। पर धीरे धीरे वह स्वरूप आवृत होता गया और प्रेम का आलंबन बन मधुर रूप ही शेष रह गया। वल्लभाचार्य जी ने स्पष्ट शब्दों में उनका लोक संग्रही रूप हटाया। उन्होंने लोक

और वेद दोनों की मर्यादा का अतिक्रमण अपने संप्रदाय में आवश्यक ठहराया। लोक को परे फेंकने से कृष्णभक्ति व्यक्तिगत एकांत प्रेम साधना के रूप में ही रह गई। इतना होने पर भी सूरदास, नंददास आदि महाकवियों ने कृष्ण को इसी जगत के बीच - वृंदावन में - रखकर देखा। उन्होंने रहस्यवाद का रंग अपनी कविता पर नहीं चढ़ाया। क्या यह भी उतना ही सच नहीं है कि रामभक्ति शाखा में न केवल कोई तथाकथित शूद्र या मुसलमान बल्कि अन्य किसी भी जाति का कोई भी कवि वह मान प्रतिष्ठा और वह काव्यगत उत्कर्ष न पा सका जो तुलसी को सुलभ है। और जहाँ तक कृष्ण भक्ति शाखा में मुसलमान कवियों के रहते आने की बात है तो हम इस सच को नकार कर नहीं चल सकते कि रामभक्ति-शाखा में सर्वतः व्याप्त मर्यादाबद्धता और कृष्णभक्तिशाखा में आगत एकांतिक प्रेमसाधनात्मक रहस्यवाद वे तत्व हैं जो मुसलमान कवियों के लिए कृष्ण भक्ति-धारा को रामभक्ति-धारा की अपेक्षा अधिक सुग्राह्य बना रहे थे।

तमाम दबावों के तहत लोकधर्म का एक सार्वजनीन स्वरूप निखर रहा था, एक नयी लोकभाषा और लोकसंस्कृति वैदिक-अवैदिक, आर्य और आर्येतर आचारों, विचारों, धारणाओं तथा मान्यताओं को एक दूसरे में घुलाते-पचाते हुए बन रही थी। जिसकी परिणति आज हम अपने समाज में पाते हैं। आज के बदले हुए माहौल में भी कुछ ऐसे सामाजिक संबंध हैं जिनकी परम्परा प्राप्त मान्यता ही हमें स्वीकार्य है, यथा गुरु-शिष्य-संबंध, पिता-पुत्र-संबंध। इन संबंधों में आचरणगत उलटफेर तथाकथित परिवर्तनकामी शक्तियों को भी मान्य नहीं है। यह अलग बात है कि हमारे चाहने और न चाहने के बावजूद समय-सापेक्ष परिवर्तन हुए हैं। कबीर और तुलसी का इसमें निश्चित और महत्वपूर्ण योगदान है और उनकी भक्ति की व्याख्या इसी संदर्भ में अपना सही अर्थ पाती है।

तुलसी बार-बार कहते हैं-"लोकहु वेद न आन उपाऊ।" लोक-स्वीकृत और वेद-विहित दो जीवन-विधियाँ (धर्म) हैं। ये जीवन-विधियाँ कभी परस्पर मिलती हैं, तो कभी एक दूसरे को काटती हैं। तुलसी अपनी जीवन-विधि (धर्म) सम्बन्धी तमाम उपस्थापनाओं के प्रमाणन के लिए इन दोनों के पास बार-बार जाते हैं। क्या यह संयोग मात्र है कि तुलसी के यहाँ 'लोक' हर बार 'वेद' के पहले आता है। सामन्यतः समाज भी कर्तव्य-अकर्तव्य के विचार में लोक का प्रमाण पहले ग्रहण करता है, वेद का बाद में।

आचार्य शुक्ल के इस मन्तव्य से भेद का कोई बिन्दु दिखाई नहीं देता कि भीतरी या सच्ची प्रवृति-निवृति को जागरित रखनेवाली शक्ति कविता है जो धर्म-क्षेत्र में भक्ति-भावना को जगाती रहती है। ध्यातव्य है कि यह धर्म, लोक धर्म है और 'भक्ति' लोक रंजन और लोक-रक्षण से युक्त शक्ति की भक्ति। आगे शुक्ल जी लिखते हैं कि -"भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है। अपने मंगल और लोक-मंगल का संगम उसी के भीतर दिखायी पड़ता है। इस मंगल के लिए प्रकृति के क्षेत्र के बीच मनुष्य को अपने हृदय के प्रसार का अभ्यास करना चाहिए। यह प्रकृति, बाह्य जगत की प्रकृति तो है ही; साथ ही मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति भी है। इस प्रकृति के व्यापक क्षेत्र में हृदय के प्रसार का मतलब है आदमी होने की तमीज का होना।

परम्परा और प्रगतिशीलता को कुछ इस तरह रखा जाता रहा है जैसे, ये परस्पर विरोधी अवधारणाएँ हों। ऐसा लगता है जैसे आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि को परम्परा से पोषित मान लें तो वह अनिवार्यतः अप्रगतिशील सिद्ध होगी। वस्तुतः परम्परा प्रगतिशीलता के विरोध में सम्भव ही नहीं है। परम्परा यदि सच्चे अर्थों में साहित्यिक सांस्कृतक है तो अनिवार्यतः प्रगतिशील होनी चाहिए। हिन्दी पट्टी के आम जन-जीवन के सबसे समर्थ रचनात्मक समीक्षकों में अग्रगण्य प्रेमचंद ने प्रगतिशील लेखक संघ के पहले सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए इसके नाम पर जो आपत्ति प्रकट की थी उसे भुला देने से बात बनने वाली नहीं है। परम्परा की ही तरह प्रगतिशीलता को भी आज के समय में प्रचलित अर्थों के साथ रूढ़ नहीं माना जा सकता। परम्परा और प्रगति की अवधारणा प्राचीन से लेकर अधुनातन जीवन-प्रसंगों तक व्याप्त उसकी सम्पूर्ण अर्थच्छवि है। इन अर्थों में परम्परा, अतीत की जड़ता का पुनर्नवीकरण नहीं है; और न प्रगति, अपरिचित या अंशतः परिचित सभ्यताओं के प्रभावों का अंधानुकरण ही है। परम्परा आत्मशोधित जीवन-सार है और इस आत्म-शोधन की कसौटी है प्रगतिशीलता। इसतरह ये दोनों समान्तर सक्रिय प्रक्रियाएँ हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना भी असंभव है। देखने की बात है कि आलोचना-दृष्टि, विशेषतः आचार्य शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि में ये दोनों प्रक्रियाएँ किस तरह सक्रिय हैं।

आचार्य द्विवेदी के अनुसार -"कबीरदास का यह भक्त रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं। मुश्किल यह है कि इस केन्द्रीय वस्तु का प्रकाश भाषा की पहुँच के बाहर है। भक्ति कहकर नहीं समझाई जा सकती, वह अनुभव करके आस्वादित हो सकती है। --वाणी द्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगाम्य तत्व की ओर इशारा किया है, उसे ध्वनित किया है। ऐसा करने के लिए उन्हें भाषा के द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप को रूप के द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है। काव्यशास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिए अकथ्य का कथन, काव्य-शक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो और क्या है? फिर भी वह ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। लेकिन यह न भूलना चाहिए कि

कबीर भक्ति की जिस उच्च भूमि पर पहुँच गये थे वहाँ उनके जीवन और उनकी वाणी का भक्ति से अलग कोई ओर रूप था ही नहीं। वे जो जीते थे - वही भक्ति थी; वे जो कहते थे - वही भक्ति थी।"

एक प्रश्न बार-बार सामने आता है कि निर्गुण अद्वैत के साथ भक्ति कैसे चल सकती है? आचार्य द्विवेदी के अनुसार कबीर तात्विक दृष्टि से अद्वैतवादी नहीं थे और उनके निर्गुण राम में और वेदांतियों के पारिभाषिक निर्गुण राम में भेद है। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर राम को रूप रेखा, आकार-प्रकार, द्वैत-अद्वैत, भाव-अभाव से परे समझते थे। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा रूपातीत भगवान भक्ति का विषय हो सकता है। आचार्य द्विवेदी भक्तिरसामृतसिंधु, नारद पांचरात्र, तुलसी, शंकराचार्य आदि अनेकानेक प्रमाणों के आधार पर यह प्रमाणित करते हैं कि --"सर्ववादि-सम्मत मत यह है कि भक्ति भगवद्विषयक प्रेम को ही कहते हैं।" भक्ति के तमाम शास्त्रोक्त लक्षण अंतिम और पूर्ण नहीं हैं। तुलसी की पंक्ति प्रमाण है -
"हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहुविधि सब संता।"

भक्ति के लिए केवल एक ही बात आवश्यक है - अनन्य भाव से भगवान की शरणागति, अहैतुक प्रेम, बिना शर्त आत्मसमर्पण। कबीर के काव्य और उनके जीवन में इन बातों की चरम परिणति हुई है। कबीर का परमात्मा के बिछोह में जो हाल है वह देखकर उनकी भक्ति की कुछ थाह पायी जा सकती है -
"तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ कै भोर किया।
तन-मन मोर रहँट अस डोलै, सून सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भये, पंथ न सूझै, साईं बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुःख जोर किया।"

कबीर की भक्ति सबके लिए है। यही कारण है कि कबीर जागते और रोते रहे -"सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै दुखिया दास कबीर है जागै और रोवै।" दुनिया के दर्द को अपना दर्द बनाने की चेतना ने उन्हें समाज में व्याप्त कुरीतियों से मोर्चा लेने पर विवश किया। वे तमाम विसंगतियों और कुप्रथाओं के खिलाफ अकेले कमर कसकर तैयार हो गये। उन्होंने अपने साथ आनेवालों के लिए जो शर्त रखी वही उनके भक्ति-पथ की कठिनता का परिचय देती है --
"कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठा हाथ
जो घर जारै आपना चलै हमारे साथ।"

कबीर की भक्ति (प्रेम) न तो बाड़ी में उपजती है न हाट में बिकती है। उसका राजा और प्रजा सबके लिए एक ही मूल्य है। शीश कटाने वाला ही इसे पा सकता है। यहाँ 'नेकु सयानप बाँक' नहीं चलने की। वे स्पष्ट कहते हैं -
"कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहिं। सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माँहिं।" वे अपने भक्ति-पथ में सहजता के बड़े आग्रही हैं। उनकी यह सहजता उन्हें सामान्य जन के निकट लाती है और सामान्य जन के लिए उनके निकट तक पहुँच पाने की राह हमवार करती है।

निष्कर्ष यह कि लोक-धर्म का संबंध कसी वर्ग विशेष से न होकर संपूर्ण समाज से है। भक्ति की राह संपूर्ण समर्पण मांगती है। मोह, अहंकार, काम, मद, लोभ आदि के साथ भक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। सामाजिक या राजनैतिक व्यवस्था में सुधार की कोई भी चेष्टा बिना खुद को सुधारे संभव नहीं है। आडंबर के लिए यहाँ कोई जगह नहीं है। निजी हित और सार्वजनिक हित में अभेद की भावना ही हमें भक्ति की ओर ले जा सकती है। अतः भक्ति को सिर्फ जातिवाद के विरुद्ध एक अस्त्र मात्र मानना इसके प्रभाव की व्यापकता और गहराई का सही आकलन नहीं है। भक्ति; परम सत्य के साक्षात्कार के प्रभाव से व्यक्ति और समाज के समग्र व्यक्तित्वांतरण की विराट चेष्टा है। इसके लिए सहजता, सादगी और सेवा को मन, वचन और कर्म से अपनाना ही होगा।

References

1. नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज, पृष्ठ 79
2. नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज, पृष्ठ 80-81
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृष्ठ 7,8
4. रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ 27
5. गजानन माधव मुक्तिबोध, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, पृष्ठ 292
6. रामचंद्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ 12-13
7. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृष्ठ 172, 173
8. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृष्ठ 16
9. तुलसीदास, रामचरित मानस, बाल काण्ड, पृष्ठ 117
10. हजारी प्रसाद द्ववेदी, कबीर पृष्ठ 141